“पूर्वोत्तर भारत (मिथिला) में प्राचीन विवाह संस्था : वर्णरत्नाकर का साक्ष्य”

डा० भुवनेश्वर प्रसाद गुरूमैता

(क) विवाह का उद्देश्य और महत्त्व

प्राचीन हिन्दू समाज में विवाह को वैयक्तिक ही नहीं, बल्कि धार्मिक और पारिवारिक महत्त्व भी मिला था। हिन्दू संस्कारों में विवाह को सबसे अधिक महत्त्व दिया गया। मध्यकाल तक विवाह के आदर्श, उद्देश्य एवं कार्य स्थिर हो चुके थे। यह एक चिरमर्यादित संस्था बन गई थी। हाँ, इनके प्रकार अवश्य विभिन्न थे। ज्योतिरीश्वर ने चौदहवीं शताब्दी में सांस्कृतिक विश्वकोषात्मक मैथिली ग्रंथ वर्णरत्नाकर का प्रणयन करते हुए “विवाह-वर्णना” के अन्तर्गत वैवाहिक विधि-विधानों का जो सारगर्भित चित्रण किया है, उससे भी यह एक संस्कार करने की पद्धति परिलक्षित होती है।[1] अधिकांश गृह्यसूत्रों का आरम्भ विवाह-संस्कार से होता है और गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन आदि के वर्णन करते हुए समावर्तन पर ठहरते हैं। क्योंकि, विवाह समस्त गृह्ययज्ञों व संस्कारों का उद्‌गम अथवा केन्द्र है। वे पहले से ही यह मानकर चलते हैं कि साधारण परिस्थितियों में समाज प्रत्येक व्यक्ति से विवाह कर गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा करता है।[2] उनके पूर्व भी वैदिक काल में विवाह-प्रथा विकसित हो चुकी थी। ऋग्वेद के अनुसार विवाह का उद्देश्य गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हो, देवकार्यों को करने का अधिकार प्राप्त करना तथा संतान-प्राप्ति था।[3] पत्नी के साथ प्रेममय जीवन की अभिव्यक्ति अथर्ववेद में भी पाते हैं।[4] ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मण में भी संतान-प्राप्ति के लिए विवाह को महत्वपूर्ण समझा गया है।[5] तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार विवाह स्वयं एक यज्ञ माना जाता था और अविवाहित व्यक्ति को अयज्ञिय अथवा यज्ञहीन कहा जाता था।[6] एकाकी पुरुष अधूरा है। उसका अर्धभाग तो उसकी पत्नी है।[7] विवाह के बिना पितृ-ऋण से मुक्त होना असंभव माना गया है।[8]

उपनिषदों के युग में आश्रमों के प्रतिष्ठित होने पर व्यक्तित्व के विकास के लिए विवाह का गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होना अनिवार्य माना गया है। धर्मशास्त्र तो आश्रम-व्यवस्था का समर्थन ही

१. वर्णरत्नाकर, सम्पादक, डा० सुनीति कुमार चटर्जी, प्रकाशक रायल एशि० सोसाइटी, बंगाल, कलकत्ता १९४०, पृष्ठ ६४-६५।

२. डा० राजबली पाण्डेय; हिन्दू संस्कार, पृष्ठ १९५।

३. ऋग्वेद, १०/८५।

४. अथर्व० १४/१-२१।

५. ऐतरेय० ३३/१/१ का २, ४। शतपथ० ५/२/१/१०।

६. तैत्तिरीय ब्रा० २/२/२/६।

७. वही, २/९/४/७ ‘अथो अर्द्धो वा एष आत्मनः यत् पत्नी’।

८. तैतिरीय संहिता, ६/३/१०/५।

करते हैं। मनुस्मृति के अनुसार आयु के प्रथम भाग अर्थात् ब्रह्मचर्यावस्था को गुरु के आश्रम में व्यतीत करना चाहिए। दूसरा भाग विवाहित पत्नी के साथ गृहस्थाश्रम में व्यतीत करना चाहिए। तदनन्तर वानप्रस्थ नामक तृतीय भाग को वन में व्यतीत कर, अन्त में, सांसारिक सम्बन्धों का त्यागकर संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिए।[1]

हारीत के अनुसार उक्त नियमों का पालन करने वाले ब्रह्मलोक प्राप्त करने में समर्थ हैं।[2] मनुस्मृति में गृहस्थाश्रम को समस्त सामाजिक संगठन का मूल कहा है। जिस प्रकार समस्त जन्तु अपने जीवन के लिए वायु पर आश्रित हैं, उसी प्रकार सब आश्रम गृहस्थाश्रम पर आधारित हैं। क्योंकि, गृहस्थ ज्ञान तथा अन्न से अन्य तीनों आश्रमों की सहायता करता है, अतः वह अन्य तीनों से श्रेष्ठ है। स्वर्ग तथा इहलोक में सुखाभिलाषी व्यक्ति को गृहस्थाश्रम का पालन करना चाहिए। दुर्बलेन्द्रिय व्यक्ति गृहस्थाश्रम को धारण नहीं कर सकता।[3] पत्नी धर्म, अर्थ तथा काम की सिद्धि का श्रेष्ठतम साधन है। किसी भी वर्ण का अपत्नीक पुरुष धार्मिक क्रियाओं के योग्य नहीं हो सकता।[4]

विवाह के उपर्युक्त हिन्दू कारणों के अनुसार ही प्राचीन इजरायल में भी इसे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था।[5] यूनान में भी विवाह को एक पवित्र सम्बन्ध समझा जाता था। एथेन्स में तो एक अधिनियम के द्वारा शासक को देखभाल करने के लिए यह आदेश दिया गया था कि कहीं कोई वंश अछिन्न न हो जाये।[6] इसाई पादरियों ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि विवाह एक शारीरिक ही नहीं आध्यात्मिक व्यवस्था भी है। भारतवर्ष में बहुत प्राचीन काल में ही यह मान लिया गया था कि केवल यौन सुख के आधार पर पति-पत्नी का चिर-स्थायी सम्बन्ध नहीं हो सकता। सुप्रसिद्ध मानव शास्त्री वेस्टर मार्क ने भी लिखा है : यह असम्भव नहीं है कि कुछ लोगों में स्त्री और पुरुष के बीच यौन सम्बन्ध पूर्णतः स्वेच्छाचारी रहे हों।

किन्तु इस धारणा के पक्ष में कोई भी तर्क-संगत प्रमाण नहीं है कि मानव-इतिहास के किसी युग में स्वेच्छाचारी यौन सम्बन्ध सामान्य रूप से प्रचलित था। यद्यपि अधिकांश देशों में बहुपत्नी-प्रथा तथा कुछ लोगों में बहुपति-प्रथा प्रचलित है, किन्तु एक पत्नी-प्रथा अत्यन्त प्राचीन काल से ही विवाह का सर्वाधिक प्रचलित व लोकप्रिय प्रकार रही है।[7] हावर्ड महोदय ने भी बताया है कि स्वेच्छाचारी यौन सम्बन्धों से न तो परिवार ही अस्तित्व में आ सकता है और न ही आत्म-बलिदान तथा संयम जैसे उच्च मानवीय भावों का विकास हो सकता, जिनका मानव जाति की उन्नति में

---

१. मनुस्मृति, ४/१/२।
२. संस्कारमयूख पृ० ६४ पर उद्धृत-हिन्दू संस्कार पृष्ठ १९७।
३. मनुस्मृति, ३/७७-७९।
४. याज्ञवल्क्य स्मृति, १/५। पर अपरार्क द्वारा दिया गया उद्धरण।
५. विलिस्टाइन गुडसेल: ए हिस्ट्रीऑफ दि फैमिली एज ए सोशल एण्ड एजुकेशनल इंस्टिट्यूशन पृ० ५२ आदि।
६. वही, पृष्ठ ७६ आदि।
७. वेस्टरमार्क: हिस्ट्री ऑफ ह्यूमन मैरिज, पृ० १३३-१४९।

बहुत बड़ा हाथ रहा है।[१] भारतीय साहित्य में भी वैदिककाल से ही आजीवन स्थायी और नियंत्रित विवाह की सराहना की गयी है। पाणिनि, पतंजलि और कालिदास के साहित्य में दाम्पत्य के मधुर सम्बन्धों का साक्ष्य मिल जाता है।

विवाह के प्रकार :—वर्णरत्नाकर में ब्राह्म, देव, पैशाच और गान्धर्व प्रभृति आठ प्रकार के विवाहों में प्राजापत्य को श्रेष्ठ कहा गया है।[२] गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र, अर्थशास्त्र और स्मृतियों में भी विवाह के आठ प्रकार कहे गये हैं—ब्राह्म, देव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच।[३] स्मृतियों के अनुसार उनमे प्रथम चार प्रकार प्रशस्त हैं और शेष अप्रशस्त।[४] इनमें प्रथम सर्वोत्तम था, पंचम तथा षष्ठ किसी प्रकार सह्य थे तथा अन्तिम दो वर्जित थे। किन्तु वैध सभी थे। डा० राजबली पाण्डेय के अनुसार जो प्रकार जितना ही अधिक अप्रशस्त (अप्रशंसनीय) था, वह उतना ही अधिक प्राचीन था, यद्यपि उनमें से कुछ साथ-साथ प्रचलित थे।[५] अतएव इनका विपरीत क्रम से ही ऐतिहासिक विकास दिया जा रहा है।

पैशाच :—यह सबसे अधिक अधम प्रकार था[६]। आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार सुप्त, मत्त अथवा अचेतन कन्या का हरण पैशाच विवाह कहलाता था। गौतम तथा विष्णु के अनुसार अचेतन सुप्त या मत्त कन्या के साथ मैथुन करना ही पैशाच विवाह है। मनु ने भी इसी का समर्थन किया है।[७] याज्ञवल्क्य और देवल किसी कन्या के साथ छलपूर्वक किए गए विवाह को पैशाच मानते हैं। विद्वानों का ऐसा अनुमान है कि पश्चिमोत्तर भारत की पैशाच जाति में इस प्रकार के असभ्य विवाह का प्रचलन था, जिससे इसका नाम पैशाच पड़ा।

राक्षस :—मनु के अनुसार रोती, पीटती हुई कन्या का उसके सम्बन्धियों को मार या क्षत-विक्षत कर बलपूर्वक हरण करना, राक्षस विवाह कहलाता था।[८] विष्णु तथा याज्ञवल्क्य स्मृतियों में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि राक्षस विवाह का उद्भव युद्ध से हुआ। विद्वानों की धारणा है कि यह विवाह आदि काल में प्रचलित था। आजकल भी गोंडों में विवाह-मण्डप से भागने का अभिनय करती हुई वधू का वर पीछा करता है। ऐसी ही प्रथा बिहार के बिरहोलों में भी प्रचलित है। मनु और भीष्म के अनुसार क्षत्रियों के लिए राक्षस विवाह प्रशस्त है।[९] हारीत ने इसे क्षात्र विवाह कहा है और देवल

---

१. हावर्ड: हिस्ट्री ऑफ मैट्रीमोनियल इंस्टिट्यूशन, पृ० ९०-९१।

२. वर्णरत्नाकर, पृ० ६५।

३. आश्वलायन गृह्यसूत्र १/६, गौतम, ४/६-१३, बौद्धायन।
धर्मसूत्र १/११, कौटिल्य ३/१/५९, मनुस्मृति ३/२१, याज्ञवल्क्यस्मृति १/५८-६१।

४. मनुस्मृति ३/२४-२५।

५. हिन्दू संस्कार, पृ० २०३।

६. मनुस्मृति ३/२१-पैशाचश्चाष्टमोऽधमः।

७. वही, ३/२६।

८. मनुस्मृति ३/३३।

९. मनुस्मृति ३/२४, महाभारत १/२४५/६।

ने इसे वीरता का मापदण्ड माना है। हिन्दी साहित्य के आदिकालीन महाकाव्य पृथ्वीराजरासो में पृथ्वीराज द्वारा संयुक्ता के हरण की कथा भी यही सिद्ध करती है। इसके बाद यह प्रथा उठ सी गई।

गान्धर्व :—आश्वलायन के अनुसार गान्धर्व विवाह में पुरुष और स्त्री परस्पर निश्चय कर एक दूसरे के साथ गमन करते हैं।[१] मनु के अनुसार जब कन्या और वर कामुकता के वशीभूत होकर स्वेच्छापूर्वक परस्पर संयोग करते हैं तो उसे गान्धर्व कहते हैं।[२] हारीत और गौतम के अनुसार इसमें कन्या स्वयं पति का चुनाव करती है। इसमें युवक तथा युवती स्वयं परस्पर आकर्षित होते होंगे। अथर्व वेद के एक मंत्र से पता चलता है कि माता-पिता प्रायः पुत्री को अपने प्रेमी के चुनाव के लिए स्वतंत्र छोड़ देते थे।[3] इसमें एक स्थल पर गन्धर्व पतियों का उल्लेख किया गया है।[४] संस्कृत महाकाव्यों में तो इसके अनेक उदाहरण हैं। शकुन्तला और दुष्यन्त का विवाह इसी वर्ग में आता है। कण्व ने कहा है कि सकामा स्त्री का सकाम पुरुष के साथ विवाह, भले ही धार्मिक क्रिया व संस्कार से रहित क्यों न हों, सर्वोत्तम है।[५] स्मृतिकारों ने इसे धार्मिक क्रियाओं तथा संस्कार के बिना सम्पन्न होने के कारण अप्रशस्त माना है।[६] आगे चलकर ऐसे विवाह से स्थायी प्रेम में संदेह उत्पन्न होने लगा। फलस्वरूप यह लुप्तप्राय हो गया।

आसुर :—मनु के अनुसार जिस विवाह में पति कन्या तथा उसके सम्बन्धियों को यथाशक्ति धन प्रदान कर, स्वच्छन्दतापूर्वक उससे विवाह करता है, उसे आसुर कहते हैं।[७] इस विवाह में सौदेबाजी को महत्व मिला है। लेकिन छल का प्रयोग कम होने के कारण यह राक्षस एवं पैशाच से अधिक सभ्य अवश्य था। आदिम काल के पितृसत्तात्मक परिवार में सन्तान सम्पत्ति समझी जाती थी। अतएव धन के लिए कन्या को बेचा जा सकता था। वैदिक काल में भी इसके कतिपय उदाहरण मिलते हैं।[८] महाभारत से ज्ञात होता है कि भीष्म ने कतिपय कुरुराजकुमारों के लिए क्रय द्वारा पत्नियाँ प्राप्त की थीं।[९] लेकिन उस समय भी जनमत इस पक्ष में नहीं था। मनु ने कहा है कि कन्या के विद्वान पिता को अणुमात्र शुल्क भी स्वीकार नहीं करना चाहिए। लोभ के कारण शुल्क स्वीकार करने वाला पुरुष सन्तान को बेचने वाला है।[१०] आगे चलकर कन्या का विक्रय अधिकाधिक जघन्य समझा गया। लोभान्ध होकर धन के लिए अपनी पुत्री देने वाले को घोर नरक में गिरने वाला तथा

---

१. आश्व० गृह्यसूत्र१/६।
२. मनुस्मृति ३/३२।
३. अथर्ववेद २/३६।
४. वही, ५/३७/१२।
५. महाभारत ४/९४/६०।
६. गान्र्वस्तु क्रियाहीनः रागादेव प्रवर्तते—वीरमित्रोदय भा० २, पृ० ५७ पर उद्धृत।
७. मनुस्मृति ३/३।
८. ऋग्वेद, १/१; ७/२ तथा १०/२७/१२।
९. महाभारत, आदि० १२२/९ आदि।
१०. मनुस्मृति, ३/५१।

सात पीढ़ियों द्वारा अर्जित पुण्यों का ध्वंस करने वाला कहा गया है।[१] आगे चलकर जब रजोदर्शन के पूर्व ही विवाह की प्रथा प्रचलित हुई तो वर के पिता द्वारा माँगा हुआ धन देकर कन्या से मुक्ति प्राप्त करना आवश्यक समझा गया। विवाह को यज्ञ मानकर भी कन्यादान की दक्षिणा दहेज रूप में देने की प्रथा चल पड़ी। वर्तमान काल में यही प्रथा कठोर हो गई है।

प्राजापत्य :—इस विवाह के अन्तर्गत प्रजापति के कार्य :—

(१) संतान की उत्पत्ति तथा (२) धर्माचरण की प्रधानता थी। आश्वलायन के अनुसार प्राजापत्य विवाह में यह आदेश दिया जाता था कि "तुम दोनों धर्म का साथ-साथ आचरण करो।[२] मनु ने भी ऐसा ही कहा है।[3] याज्ञवल्क्य के अनुसार पिता अपनी कन्या का पाणिग्रहण योग्य वर के साथ इस उद्देश्य से लेकर देता था कि वे दोनों अपने नागरिक एवं धार्मिक कर्तव्यों का साथ-साथ निर्वाह करें।[४] यह विवाह निश्चित शर्तों पर आधारित था। इसमें पति-पत्नी के अधिकार भी नियत थे। इसलिए इस प्रकार के विवाह के लिए प्रौढ़त्व अपेक्षित था। क्योंकि इस प्रतिज्ञा को समझे बगैर इसमें प्रविष्ट होना असम्भव था। ज्योतिरीश्वर कालीन मिथिला में इस विवाह की प्रशस्ति उस युग की बौद्धिक प्रगति का सूचक है।

कुमारसम्भव में भी पार्वती का विवाह उसी रीति से हुआ था। वस्त्राभूषणों से अलंकृत पार्वती महादेव जी को मंत्रोच्चारण सहित कन्यादान-स्वरूप दे दी गई थी। परवर्ती काल में बाल विवाह के प्रचलन से इस प्रथा को ठेस पहुँची।

आर्ष :—कन्या का पिता जब यज्ञादि धर्मविहित कार्य को सम्पन्न करने के लिए एक अथवा दो जोड़े गौ वर से लेकर विधिवत् कन्या प्रदान करता था तो उसे आर्षधर्म (ऋषि-विवाह) कहते थे।[५] ऋषियों अथवा ब्राह्मणों में ही यह विवाह प्रचलित था। उसमें गौ का ग्रहण यज्ञ के लिए करने पर भी नाममात्र के व्यापार की गन्ध आ ही जाती थी। दूसरे यज्ञों का भी प्रचलन कम होने पर इस विवाह का बहिष्कार किया गया। अतएव मध्यकाल में इसका कहीं उल्लेख नहीं मिलता।

दैव :—दैवकर्म से सम्बन्ध होने के कारण यह विवाह दैव कहलाता था। उसमें पिता कन्या को अलंकृत कर यज्ञ कार्य में पौरोहित्य करने वाले ऋत्विज को दे देता था।[६] बौधायन के मतानुसार दक्षिणास्वरूप ही कन्या दी जाती थी। परवर्ती काल में यज्ञीय प्रथा के अप्रचलन के साथ इस पद्धति का भी नाम मिट गया।

---

१. बौधायन धर्मसूत्र १/११/२१।
२. आश्वलायन गृह्यसूत्र १/६ (सह धर्मं चरति इति प्राजापत्यः)।
३. मनुस्मृति ३/३०।
४. याज्ञवल्क्यस्मृति १/६०।
५. मनुस्मृति ३/२९।
६. आश्वलायन गृह्यसूत्र १/६।

ब्राह्म :—धर्मशास्त्रों के अनुसार यह विवाह का सबसे अधिक सात्विक, विकसित और सरल प्रकार था।[१] इसमें कन्या का पिता अथवा अभिभावक उसको भली प्रकार वस्त्राभूषणों से अलंकृत कर विद्वान् तथा आचारवान् वर को स्वयं बुलाकर और उसका आदर करके कन्यादान करता था।[२] भारतीय इतिहास के सभी कालों में यह प्रथा बहुत अधिक प्रचलित थी। ऋग्वेद में वर्णित सोम और सूर्या का विवाह ब्राह्म विवाह का उदाहरण है।[3] आजकल भी इसी का प्रचलन है, केवल दहेज की गंदी प्रथा इसमें घुस गई है।

(ख) विवाह का निर्धारण :—

ज्योतिरीश्वर के अनुसार विवाह के निर्धारक तत्वों में गोत्र, प्रवर, लग्न और यौन आवश्यक तत्व थे।[४] स्मृतियों में वर्ण को भी विवाह के निर्धारण के लिए विचारणीय बताया गया है। लेकिन मध्यकाल में सवर्ण का प्रतिबन्ध जम जाने के कारण उसकी चर्चा करना ज्योतिरीश्वर ने आवश्यक नहीं समझा। वैदिक साहित्य में कतई यह वर्णपरक प्रतिबन्ध नहीं था। उस युग में ब्राह्मण ऋषि च्यवन का विवाह क्षत्रिय कुमारी सुकन्या से तो ब्राह्मण श्यावाश्व का विवाह क्षत्रिय राजा रथवीति दार्भ्य की कन्या से होने जैसे अनेक उदाहरण मिलते हैं।[५] सूत्रों और स्मृतियों में सवर्ण विवाह पर बल दिया गया। फिर भी अनुलोम (उच्च वर्ण के वर का निम्न वर्ण की कन्या के साथ) विवाह वैध समझे गए। अनुलोम के पक्ष में नारद, याज्ञवल्क्य और मनुस्मृति के वचन मिल जाते हैं।[६] लेकिन विज्ञानेश्वर ने इसका कोई उल्लेख नहीं किया है। मिताक्षरा के लेखक विज्ञानेश्वर की मान्यता मिथिला में थी। उस समय सम्भवतः अनुलोम को अवैध मान लिया गया था; तभी ज्योतिरीश्वर ने भी उसकी चर्चा नहीं की। हालांकि कुछ ही पूर्व हर्षचरित और कर्पूरमंजरी में इसके उल्लेख हैं।[७] ऐसा लगता है कि परवर्ती काल में कुलाभिमान तथा निम्न वर्णों में अशिक्षा आदि के कारण असवर्ण और असजातीय विवाह सम्बन्ध कम होते गए।

गोत्र :—आर्य लोग विवाह में सवर्ण तथा असगोत्र इन दोनों नियमों का पालन करते हैं। भारत में ही नहीं, विश्व के अन्य सभ्य या असभ्य जातियों में भी यह प्रतिबन्ध मिलता है कि किसी भी व्यक्ति को अपने गोत्र के भीतर तथा जाति के बाहर विवाह नहीं करना चाहिए। इस पद्धति के उद्भव के सम्बन्ध में अनेक मत मिलते हैं। एकमत के अनुसार आदिम जन के अन्दर यौन स्वेच्छाचार को रोकने के लिए असगोत्र विवाह का प्रचलन हुआ।[८] एक दूसरे मत के अनुसार आदिम काल में

---

१. वही, मनुस्मृति ३/२६, याज्ञ० स्मृति १/५८, वशिष्ठ स्मृति २/५, शंखस्मृति ४/२।

२. मनुस्मृति ३/२६।

३. ऋग्वेद १०/७५।

४. वर्णरत्नाकर, पृष्ठ ६४।

५. शतपथ ब्राह्मण ४/१/५; १३/२/९/८; बृहद्देवता ५/५०।

६. याज्ञवल्क्य स्मृति की विश्वरूप टीका, ३/२८३, मनु० मेधातिथि भाष्य, ३/१४।

७. हर्षचरित उच्छ्वास १, कर्पूरमञ्जरी १/११।

८. एल० एच० मॉर्गन, एंशियेन्ट सोसाइटी, पृ० २४।

कन्याओं की कमी के कारण इस प्रथा का उदय हुआ।[1] कुछ विद्वानों ने इसके आविर्भाव का कारण यह बताया है कि एक साथ पले हुए व्यक्तियों में परस्पर यौन आकर्षण का अभाव था।[2] अन्य विद्वानों ने असगोत्र विवाह की प्रथा का मूल टोटम (धार्मिक चिह्न) में माना है। आदिम व्यक्तियों ने अपने रक्त की पवित्रता की सुरक्षा के लिए समान टोटम (धार्मिक चिह्न) धारण करने वालों में यौन सम्बन्ध का निषेध किया।[3] लेकिन, यह सम्भव प्रतीत नहीं होता कि आदिम काल में टोटम के आधार पर रक्त को ऐसी पवित्रता मान ली गई है। ऐसा लगता है कि आदिम जातियाँ भ्रमणशील रहने के कारण नवीन सखा और नवीन पत्नियाँ बनाने में रूचि लेने के कारण असगोत्र विवाह की ओर उन्मुख हुई होंगी। वस्तुतः असगोत्र विवाह के विकास में कुछ सीमा तक हरण-विवाह (राक्षस) भी सहायक हुआ होगा।

आधुनिक प्रजनन शास्त्र की दृष्टि से भी एक ही परिवार या जन के भीतर विवाह करना हानिप्रद है। डार्विन ने लिखा है कि दीर्घकाल तक अन्तः प्रजनन के परिणामस्वरूप प्रजनन शक्ति तथा शारीरिक आकृति का ह्रास होता है।[४] गोत्र शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य में आधुनिक अर्थ में नहीं मिलता। वहाँ इस शब्द का उल्लेख गोष्ठ[५] (गोशाला), दुर्ग[६], जनसमूह और व्यक्ति विशेष के रक्त सम्बन्ध[७] से संयुक्त मानव समूह के अर्थ में मिलता है। उपनिषदों में भारद्वाज, गार्ग्य, गौतम, कश्यप आदि गोत्रों से गुरुकुलों में विद्यार्थी सम्बोधित किए जाते थे। विवाह सम्बन्ध की दृष्टि से सबसे पहले लाट्यायन श्रौतसूत्र में बताया गया है कि सगोत्र व्यक्ति समान जन होने से अविवाह्य हैं।[८] बोद्धायन श्रौतसूत्र के अनुसार विश्वामित्र, जमदग्नि, भरद्वाज, गौतम, अत्रि, वसिष्ठ और कश्यप, ये सात गोत्र-ऋषि हैं और अष्टम अगस्त्य। जिनकी सन्तति को गोत्र कहते हैं।[९] पंतजलि के अनुसार ८० हजार ऋषियों ने ब्रह्मचर्य से सन्तति चली। इनकी सन्तान को गोत्र कहते हैं और इनसे भिन्न को गोत्रावयण (आंशिक गोत्र)। मध्यकालीन स्मृति भाष्यकार मेधातिथि तथा विज्ञानेश्वर ने बताया है कि गोत्र का सम्बन्ध वंशपरम्परा के अर्थ में ही है। किन्तु और आगे जाकर इसका सम्बन्ध धार्मिक तथा सांस्कृतिक परम्परा से हो गया और ब्राह्मण से उतर वर्णों के गोत्र भी ब्राह्मण पुरोहितों के ही गोत्र बन गए। हमारे आलोच्य युग में विवाह के लिए वर-कन्या का गोत्र भिन्न होना आवश्यक था। यह अल्बेरूनी के विवरण से भी स्पष्ट होता है। उनके अनुसार हिन्दू यह स्वीकार करते थे कि पति और पत्नी का सम्बन्ध जितना ही दूर का हो उतना ही अच्छा। अपनी वंशजा अर्थात् पोती या प्रपोती तथा अपनी

---

१. आई० एफ० मैकलेनन, स्टडीज इन ऐंशियेन्ट हिस्ट्री, १, पृ० ९० ।

२. वेस्टमार्क, ह्यूमैन मैरेज, १६-१६ ।

३. दुर्खइम, एन्नी सोशियोलोजिक, १, १/६० ।

४. डार्विन : वेरियेशन ऑफ ऐनिमल्ज एण्ड प्लान्ट्स अण्डर डोमेस्टिकेशन, लन्दन १८६८ ।

५. ऋग्वेद १/५१/३, २/१७/१, ३/४३/७ आदि ।

६. वही, १०/१०३/७, अथर्व० ५/२/८, वाजसनेयी संहिता १७/३९ ।

७. अथर्व० ५/२१/३ ।

८. लाट्यायन श्रौतसूत्र ८/२/११ ।

९. बोद्धायन श्रौतसूत्र, प्रवराध्याय, ५४ ।

पूर्वजा माता, दादी या परदादी दोनों प्रकार की सगोत्र कन्याओं के साथ विवाह वर्जित समझा जाता था।[१] मनु ने बुआ, मौसी एवं मामा की कन्या से विवाह करनेवाले को नरकगामी बताया है।[२] उक्त उद्धरणों से मध्यकालीन गोत्र-व्यवस्था की विवाह के लिए आवश्यकता स्पष्ट हो जाती है। गोत्र के दायरा के अनुसार पिता की सातवीं और माता की पांचवी पीढ़ी के बाहर विवाह वैध माना गया था।

प्रवर :—असगोत्र विवाह वाला नियम प्रवर पर भी लागू होता है, क्योंकि प्रवर गोत्र के अन्तर्गत ही है। कन्या के असमान प्रवरा होने के नियम भी उसी प्रकार प्रचलित था। प्रवर की परिभाषा बताई गई है : गोत्र-प्रवर्तक मुनि के व्यावर्तक (अन्तर्गोत्र के प्रवर्तक) मुनिगण प्रवर हैं।[३] सगोत्रा तथा समानप्रवरा के साथ विवाह करने वाले के लिए उसका त्याग कर चान्द्रायणव्रत के अनुष्ठान का विधान मिलता है।[४] समान-गोत्र-प्रवरा कन्या से विवाह करने पर ब्राह्मण भी चाण्डालत्व को प्राप्त होता है।[५] ज्योतिरीश्वर के समय में पंजी प्रबन्ध के सूत्रपात का भी यही कारण था। जिसका उल्लेख ऐतिहासिक प्रकरण में आ चुका है।

लग्न-निर्धारण :—ज्योतिरीश्वर ने लग्न-निर्धारण की जो वैज्ञानिक पद्धति बताई है वह विवाह समय के लिए बहुत ही उपयुक्त है।[६] लग्न-निर्धारण के लिए अग्रलिखित विषय महत्वपूर्ण थे : पन्द्रह तिथि (प्रथमा, द्वितीया आदि), सत्ताईस नक्षत्र (अश्विनी, भरणी इत्यादि), सत्ताईस योग (त्रिष्कंभ, प्रीति आदि), सात वरा (वार), गन (रवि, सोम आदि सात दिन), बारह राशि (मेष, वृष आदि), आठ प्रहर, बत्तीस घली (आठ प्रहर में बत्तीस घड़ी), बारह मूहूर्त (प्रत्येक मुहूर्त पाँच दण्ड अर्थात् दो घण्टे का, दण्ड (अहोरात्र में ६० दण्ड और एक घण्टा में ढाई दण्ड), पल (दण्ड का ६०वाँ भाग), कला (पल का ६०वाँ भाग) और विकला (कला का ६०वाँ भाग) की गणना। विवाह हेतु लगन समय को प्रमुख माना गया है—'भार्या त्रिवर्गकरणं शुभशीलयुक्ता। शीलं शुभं भवति लग्नवशेन तस्याः' ॥

विवाह में वर-कन्या के जन्म-नक्षत्रों की मेलापन-विचारणा को गणना कहते हैं। यह गणना इसलिए की जाती है कि चन्द्रमा की स्थिति देखकर वर-कन्या के मानसिक सम्बन्ध का पता चल सके। चन्द्रमा जीवन-मात्र के मानस-अंग का अधिष्ठाता कहा गया है। चन्द्रमा के नक्षत्र मिश्रित होने के कारण नक्षत्रों के आधार पर ही मनुष्य के मानसिक सम्बन्ध आश्रित हैं। अतएव विवाह आदि में वर-कन्या के जन्म-नक्षत्रों का सम्बन्ध देखना आवश्यक समझा गया है। लग्न के शुभत्व में वर और वधू की जन्मराशि से आठवीं, बारहवीं राशि को छोड़कर अन्य राशिलग्न हो और उस लग्न से ७,८,१२ इन तीन स्थानों में कोई भी ग्रह नहीं हो तथा लग्न से १,५,९,४, १० में शुभ ग्रह एव ३,६,११ में पापग्रह हो तो वह लग्न शुभ फल का देनेवाला होता है।

---

१. अलबरूनी, तारीख-उल-हिन्द, अंग्रेजी अनु० सचाऊ, भाग २, पृष्ठ १५५।

२. मनुस्मृति ११/१७१-७२।

३. पराशरमाधवीय १/२/७०।

४. अपरार्क, पृ० ७०।

५. उद्वाहतत्व, पृ० ११२ में उद्धृत आपस्तम्ब।

६. वर्णरत्नाकर पृ० २३।

लग्न या चन्द्रमा से ७वें स्थान में कोई भी ग्रह हो तो यामित्र दोष कहलाता है। शुभ ग्रह हो तो सामान्य और सातवें स्थान में पापग्रह हो तो वह पाप यामित्र कहलाता है जो विशेष रूप से अनिष्टकारक कहा गया है।[1] अतएव लग्न ऐसा होना चाहिए कि यामित्र पाप-दोष से रहित और चन्द्रमा तारा के अनुकूल हो तथा लग्न से केन्द्र में १, ४, ७ और १०वें स्थान में वृहस्पति और शुक्र हो एवं सुत (पंचम) हिबुक (चतुर्थ) स्थान में शुभ ग्रहों का योग हो।

यौन निर्धारण :—ज्योतिरीश्वर ने विवाह-वर्णना के प्रसंग में आठ यौनों के मध्य उत्तम योन के निर्वाह पर विशेष बल दिया है। यह बात सर्वविदित है कि तुल्य प्रकृति के व्यक्तियों में ही परस्पर प्रीति और सद्भावना होती है। फलित ज्योतिष की रचना भी मनुष्य की प्रकृति जानने के लिए है। यदि पति-पत्नी की प्रकृति तुल्य न हो तो इनमें शाश्वत प्रीति उत्पन्न नहीं हो सकती। अतएव उनके सुखमय जीवन के लिए वर्ण, वश्य, तारा, योनि, ग्रहमैत्री, गण, भकूट और नाड़ी इन आठ कूटों की शुद्धि देखी जाती है। नारद ने तो बारह प्रकार के और गर्ग ने अठारह प्रकार के कूट (प्रीतिभेद) बताएँ हैं। परन्तु उनमें कई कूटों को विभिन्न देशीय कह कर मुहूर्तचिन्तामणिकार उपर्युक्त आठ कूटों का ही विवरण दिया है। उनके अनुसार ये आठों कूट एक से एक गुण में अधिक हैं।[2] अर्थात् वर्ण में १, वश्य में २, तारा में ३, योनि में ४, ग्रहमैत्री में ५, गणमैत्री में ६, भकूट में ७, और नाड़ी में ८ गुण हैं। सबके योग ३६ हैं। अतः गुणों का योग १८ से अधिक शुभ होता है। इनमें सातवाँ कूट भकूट (राशिकूट) नाम से व्यवहृत है।

उत्तम यौन सम्बन्धी उक्ति वर्णरत्नाकर के विवाहवर्णना नामक प्रकरण में इस प्रकार मिलती हैं : "(एकराशि), द्वादशक (द्विर्द्वादशक), नवपंचक, तृतीयेकादशक, चतुर्दशक, समसप्तक, षडष्टक, प्रीति षडष्टक, इथि आठहु यौन मध्यम उत्तम यौन निर्वहु।"[3] यदि वर और कन्या की जन्मराशि आपस में २/१२ (द्विर्द्वादशक) हो तो निर्धनता, ९/५ (नवपंचक) हो तो सन्तान हानि और ६/८ (षडष्टक) हो तो मृत्यु प्राप्त होती है। और अन्य राशियाँ अर्थात् ३/११ (तृतीयेकादशक), ४/१० (चतुर्दशक), ७/७ (समसप्तक) और (एकराशि) शुभप्रद एवं प्रीतिपद कही गई है। मुहूर्तचिंतामणि में राशिकूट सम्बन्धी इसी भाव का एक श्लोक दिया गया है।[4]

इसकी उपपत्ति (युक्ति) में विवाह वृन्दावन ग्रंथकार ने लिखा है—"व्ययेनवित्तं, नतपस्यपत्यं, नायुर्दिषत्येव वधूवराणाम्।" भावार्थ यह है कि बारहवें स्थान का व्यय और द्वितीय स्थान का नाम धन है। अतः इन दोनों का संबंध धनहानिकारक हो सकता है। पंचम भाव संतान और नवम् भाव तप कहा गया है, अतएव दोनों का संबंध सन्तानबाधक हो सकता है। इसी प्रकार अष्टम भाव आयु और षष्ठ रोग (शत्रु) कहा गया है। अतः इन दोनों के संबंध से आयु की हानि हो सकती है। इसके

---

१. मुहूर्तचिन्तामणि, विवाह प्रकरण, श्लो० ६७।

२. वर्णो वश्यं तथा तारा योनिश्च ग्रहमैत्रकम्। गणमैत्र भकूटं च नाड़ी चैते गुणाधिकाः (मुहूर्त चिन्तामणि, विवाह प्रकरण, श्लोक २१)।

३. वर्णरत्नाकर अष्टमकल्लोल, पृ० ६४।

४. मृत्युः षडष्टके ज्ञेयोऽपत्यहानिर्नवात्मजे।
द्विर्द्वादशे निर्धनत्वं द्वयोरन्यत्र सौख्यकृत्॥ मुहूर्त चिंता० विवाह० ३१॥

अपवाद बचन भी हैं। अर्थात् अशुभ भकूट होने पर भी यदि दोनों राशियों का एक ही गृहस्वामी हो, अथवा दोनों की राशियों के स्वामियों में मैत्री हो तो अशुभ कूटों का दोष नष्ट हो जाता है। यदि शुभकूट (तृतीयेकादशक, चतुर्दशक और समसप्तक) हो तो ग्रहशत्रुता के दोष को नष्ट करता है। षडष्टक होने पर भी यदि दोनों राशियों के स्वामियों में एकता या मैत्री हो तो प्रीतिषडष्टक कहलाता है।[1]

(ग) विवाह-संस्कार :

ज्योतिरीश्वर के अनुसार विवाह का असली कार्य गोत्र मिलाने (गोत्र मेलापक) से आरम्भ होता है। इसके पश्चात् ज्योतिष शास्त्र के अनुसार वर-वधू की राशियों को मिलाया जाता है। तदुपरान्त "वर-वरण" करने के प्रमाणस्वरूप सुपाड़ी और जनेऊ दान करते हैं।[2] इसका यह अर्थ हुआ कि यह वर निश्चय रूप से किया जाय। यह विवाह की पूर्वांग विधि हुई। अब वरार्चन आरम्भ होता है। कन्या पक्ष द्वारा मंडप में पधारे सम्माननीय अतिथि (वर) के स्वागत और सत्कार की क्रियायें इसमें सम्मिलित हैं। सबसे पहले अर्घ (अर्घ्य-उत्तम जल) और पाद्य (चरण धोने का जल) देते थे। फिर, विष्टर (आसन या बिस्तर) वर को बैठने के लिए दिया जाता था। तदुपरान्त आचमनीय (आचमन के लिए जल) और खाने के लिए थोड़ा मधुपर्क (घी, शहद, दही और चीनी का मिश्रण) देते थे। प्राचीन मिथिला का यह सामान्य अतिथि-सत्कार था। मधुपर्क का विवाह हमें सर्वत्र विशेष स्थान रहा है। लेकिन उसके पदार्थों में मतभिन्नता पाई जाती है। आश्वलायन और आपस्तम्ब दही और शहद का मिश्रण अथवा घी और दही के मिश्रण को मधुपर्क कहते हैं।[3]

आपस्तम्ब किसी अन्य की सम्पत्ति उद्धृत करते हुए दही, शहद और घृत के अतिरिक्त यव या बार्ली का मिश्रण भी उपयुक्त समझते हैं।[4]

पारस्कर के अनुसार मधुपर्क में दही, शहद और घी का ही योग होना चाहिए।[5] श्वसुर द्वारा वर को मधुपर्क देना अत्यन्त दुर्लभ सम्मान था। यह घोल काँसे के एक बर्तन में रखा होता था। वर को आसन निवेदित कर जब बैठा दिया जाता तो श्वसुर पहले उसका बायाँ और फिर दायाँ पैर धोता था। वर अर्घ-जल, पाद्य और आचमनीय को मन्त्रों के साथ स्वीकार करता था। अर्घ्य जल को स्वीकार करते हुए अपनी सभी कामनाओं को प्राप्त करने की प्रार्थना करता था। आचमन के बाद शरीर के विभिन्न अंगों का वह इन वचनों के साथ स्पर्श करता था। "मेरे मुख में वाणी का निवास हो, नाक में प्राण (वायु), नेत्रों में देखने की शक्ति, श्रोतों में सुनने की शक्ति, बाहुओं में बल और जाँघों में ओज का निवास रहे तथा अंग अक्षत हों। इसी प्रकार मधुपर्क ग्रहण करते समय वह कहता

---

१. मैत्र्यां राशिस्वामिनोरंशनाथद्वन्द्वस्याऽपि स्याद्गणानां न दोषः।
खेटारित्वं नाशयेत् सद्भकूटं खेट प्रीतिश्चाऽपि दुष्टं भकूटम् ॥
(मुहूर्त्तचिन्तामणि, विवाहप्रकरण, श्लोक ३३)।

२. पूगयज्ञोपवीत दान निर्व्वहु—वर्णरत्नाकर, पृ० ६४।

३. आपस्तंव; १३/१०, काणे: धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० ५४५।

४. आपस्तंव गृह्यसूत्र, १३/११/१२।

५. पारस्कर गृह्यसूत्र, ११३।

था कि मधु का जो मधुरतम रूप है, उसका भोजन कर सर्वोच्च माधुर्य का उपभोक्ता बनूं।[१]
गोत्रोच्चार :—इसके अनन्तर ज्योतिरीश्वर ने "गोत्रप्रवरक अनुगति" का जो संकेत किया है उससे कन्यादान के पूर्व वर और वधू के पूर्वजों के नामों का गोत्र और प्रवर सहित उच्चारण करने का आभास मिलता है। वासुदेव तथा हरिहर के अनुसार तीन बार तथा गंगाधर के अनुसार एक बार ऊँचे स्वर से यह सूचना दी जाती थी। इसका अभिप्राय उपस्थित लोगों को यह बतलाना था कि वर और वधू उच्च कुल के हैं।

अग्नि संधान (अग्निप्रणयन) की बात इसके बाद आती है। अग्नि देवताओं का वाहन है। यह भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधि है। इसके सान्निध्य में विवाह-संस्कार करने की प्रथा रही है। अग्नि की उपस्थिति में दक्षिण भाग में कन्यादान करने की पद्धति ज्योतिरीश्वर ने बताई है।

कन्यादान :—कुछ निश्चित व्यक्तियों को ही कन्यादान करने का अधिकार प्राप्त था। गृह्यसूत्रों में कन्या के पिता को ही अधिकार दिया गया है।[२] याज्ञवल्क्य के अनुसार पिता, पितामह, भाई, सजातीय व्यक्ति तथा माता, ये यथाक्रम पूर्व-पूर्व के नाश होने पर कन्यादान के अधिकारी हैं।[३] नारद ने पितामह के स्थान पर मित्र तथा नाना का समावेश किया है।[४] कन्यादान के समय अभिभावक यह कहता है—"मैं स्वर्णाभूषणों से अलंकृत यह कन्या तुझ विष्णु को ब्रह्मलोक को जीतने की इच्छा से देता हूँ।" इस प्रकार कन्यादान के द्वारा पिता, कन्या के सम्बन्ध में अपना स्वामित्व उसके भावी पति को हस्तान्तरित करता है। मनु के अनुसार कन्यादान का फल पति का स्वामित्व है।[५]

निखिल विश्व का पालक, समस्त प्राणी तथा देव इस तथ्य के साक्षी है कि मैं अपने पूर्वजों की मोक्ष-प्राप्ति के लिए यह कन्यादान करता हूँ।" इसके साथ ही कन्यादान की कानूनी भाषा भी बड़ी चुस्त होती थी। कन्या का गोत्रनाम-समेत तीन पीढ़ियों सहित परिचय, उसे ग्रहण करने वाले वर का भी गोत्रनाम समेत तीन प्रश्नों वाले का परिचय, देने के समय और स्थान का उल्लेख दानकर्ता का नाम और सबसे अन्त में दान के संकल्प का उच्चारण किया जाता था। अमुक नाम्नीं कन्यां...... ..अमुक नाम्ने वराय..........अग्न्यादि साक्षितया सहधर्माचरणाय पत्नीत्वेन तुभ्यमहं संप्रददे।

अग्नि-स्थापन और होम.........कन्यादान के पश्चात् मण्डप की वैदिका में हवन के लिए अग्नि रखी जाती थी। अग्नि रखने के स्थान को जल से सिक्त कर गोबर से दो बार लिपते तथा अक्षत के उपलेपन से लिखते थे। इन्हीं क्रियाओं को पञ्चमू संस्कार कहा जाता था। जिसके अन्तर्गत ज्योतिरीश्वर ने "समार्ज्जन, सेचन, उपलेपन और उल्लेषण" का उल्लेख किया है।[६]

१. यह वैदिक स्वागत पद्धति है, जो अब वाह्याडम्बर मात्र रह गयी है।
२. पारस्कर गृह्यसूत्र १/४/१६।
३. याज्ञवल्क्यस्मृति १/६/३१।
४. वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश, भाग २, पृ० ८२२ पर उद्धृत।
५. प्रदानं स्वाम्यकारणम्—मनुस्मृति ५/५२।
६. सम्मार्जन :—गोबर से लेपन; सेचन=जल से सींचना।
उपलेपन :—पिठार (पिष्टा तक) अर्थात् अरवा चावल को भींगोकर पिसा हुआ अवलेप से

होम के लिए आज्य (घी), वर्हि (कुश), ब्रह्मासन, समिध (हवन की काठी), स्थाली थाली व पात्र), संस्रव (हवन का घृत गिराने का पात्र), पइता (पवित्री), प्रणीता (सर्वा), प्रोक्षणी (यज्ञीय बर्तन), स्रुव, दृषद् (पत्थर), लाज (लावा), समी (शमी वृक्ष के डंठल (सूर्प्प) सूप इत्यादि वस्तुएं उद्योग करके रखी होती थीं।

तदनन्तर विवाह की पद्धति यज्ञ की सामान्य पद्धति के अनुसार चलती थी। इन होमों के नाम हैं—आधार, आज्य भाग, प्रजापत्य, स्वाष्टिकृत, प्रायश्चित्य तथा राष्ट्रभृत आदि। आधार नामक वह होम था जिसमें घृत से आहुति दी जाती थी।

राष्ट्रभृत होम में वर को ज्ञात या अज्ञात अनिष्टकारी शक्तियों पर विजय तथा उनसे रक्षा के लिए प्रार्थनाओं का संकेत था। इसके कुछ मंत्रों में राष्ट्रीय व्यवस्था का आवाहन है। क्योंकि राष्ट्र में शान्ति होने से ही गृहस्थाश्रम फूलता-फलता है। वैदिक परिभाषा में इसका नाम था ब्रह्म औरक्षत्र-अर्थात् राष्ट्र की विचार शक्ति और दण्ड शक्ति दोनों सकुशल रहें।

लाजाहोम—यह होम उर्वरता तथा समृद्धि का प्रतीक था।[1] वधू का भाई अपनी बंधी हुई अंजलि से बहन की अंजलि में धान का लावा (सीलें) डालता था और वधू उनका होम करती हुई यह उच्चारण करती थी—"मेरा पति आयुष्मान् हों, मेरे सम्बन्धी ऐश्वर्य-सम्पन्न हों और हममें परस्पर तथा समाज के साथ प्रीतिभाव बढ़े। अग्नि हमें यह वर दें। हमें यहाँ से मुक्त करो पर पतिगृह से नहीं।" आजकल भी मिथिला में इष्ट कन्या के हाथों में धान का लावा देकर वर के साथ वैदिका के चारों ओर घुमाते हैं और एक मधुर गीत गाते हैं :—

"दाई लावा छिरियाउ बाउ बिछि बिछि खाउ"

करग्रहण—वर द्वारा कन्या का हाथ पकड़ने की यह स्थूल क्रिया है। वर, वधू का दाहिना हाथ यह कहता हुआ ग्रहण करता है कि मैं सौभगत्व के लिए तेरा पाणिग्रहण करता हूँ, तू मेरे साथ दीर्घायु हो। भग, विष्णु, सविता और पुरन्धि इन देवों ने तुझे मेरे हाथ सौंपा है, जिससे हम अपने घर पर शासन करें। मैं साम हूँ, तू ऋक् है; मैं नभ हूँ, तू पृथ्वी है। आओ, हम दोनों विवाह कर अनेक दीर्घायु पुत्र प्राप्त करें। सौ शरद् ऋतुओं पर्यन्त हमारे मन प्रेमपूर्ण और प्रकाशमान रहें और हम जीवित रहें। कालिदास ने भी पाणिग्रहण प्रथा का उल्लेख किया है।[2]

अश्मारोहण—वधू का पत्थर पर चढ़ना यह बोध कराता है कि उसका पातिव्रत्य पत्थर की तरह स्थिर है। वर अग्नि के उत्तर में वधू का दाहिना पैर पत्थर पर रखवाता है और यह मन्त्र दोहराता है—"इस पत्थर पर तू आरूढ़ हो, उसके समान स्थिर हो, शत्रुवत् आचरण करने वालों को पैरों से रौंद डाल।"

वेष्टन; उल्लेपण=सूत्र के मूल से तीन रेखायें अंकित करना तथा उत्प्रेक्षण—तीनों रेखाओं से कुशादि अशुद्ध पदार्थ फेंकना।

१. पारस्कर गृह्यसूत्र १/६/१-२।

२. रघुवंश ७/२१।

प्रदक्षिणा—इसके पश्चात् वर-वधू द्वारा अग्नि की प्रदक्षिणा का विधान है। वर-वधू अग्नि के चारों ओर एक साथ चार बार परिक्रमा करते हैं। आजकल यह लोकप्रथा लाजाहोम के साथ ही पूरी की जाती है।

सप्तपदाक्रमण :—सप्तपदी की इस प्रथा के अनुसार पति-पत्नी एक दूसरे के साथ उत्तर दिशा में सात पग चलते हैं। इसी समय के सात प्रतिज्ञायें भी करते हैं—ऐश्वर्य के लिए एकपदी हो, ऊर्ज के लिए द्विपदी हो, भूमि के लिए त्रिपदी हो, सुखों के लिए चतुष्पदी हो, पशुओं के लिए पंचपदी हो, ऋतुओं के लिए षट्पदी हो और सख्य के लिए सप्तपदी हो। इस प्रकार हे सखे ! तू मेरी अनुव्रता हो। "त्वं मे सप्तपदः सखा" इस वाक्य द्वारा पति-पत्नी की मित्रता सरस और स्वाभाविक बनती थी। वैधानिक दृष्टि से सप्तपदी के बाद वैधरूप से विवाह सम्पन्न समझा जाता था।[1] सप्तपदी की प्रथा बहुत प्राचीन काल से चली आती है ऋग्वेद में सप्तपदी के लिए अग्नि द्वारा इष् और ऊर्ज के दोहन का उल्लेख है।[2] अथर्ववेद में अथर्वा वरूण को अपना सप्रपदसखा कहता है, और वरूण भी उसके लिए वही भाव प्रकट करता है।[3] गृह्यसूत्रों में विवाह-संस्कार के अन्तर्गत सप्तपदी का विधान है। इसी में साप्तपदीन या साप्तपद सख्य का आदर्श स्थिर हुआ। रामायण के अनुसार साप्तपदीन मित्रता राम-सुग्रीव मैत्री की भाँति अग्निसाक्षिक हुआ करती थी।[4] महाभारत में भी साप्तपद सख्य का उल्लेख है।[5] पाणिनि ने "साप्तपदीनं सख्यं" की चर्चा की है।[6]

सिन्दूरदान :—सिन्दूर सौभाग्य चिह्न था। सबसे अन्त में उसे लगाया जाता था। सन (पाट), शंख और सोन (सोना) लेकर वर द्वारा वधू की माँग को सिन्दूर से भरा जाता था।

अलंकार परिच्छद :—अलंकार परिच्छद की क्रिया द्वारा आभूषणों का संदर्शन वधू को कराया जाता था। इस अन्तिम विधि के साथ विवाह-संस्कार की सम्पन्नता वर्णरत्नाकर में वर्णित है।

(घ) विवाह-संस्कार का प्रतीकत्व :—

वर्णरत्नाकर में वर्णित वैवाहिक क्रियाओं से यह स्पष्ट होता है कि विवाह जीवन में एक बड़ी संक्रान्ति है। संस्कार की पद्धतियाँ यह स्पष्ट करती हैं कि समाज और राष्ट्र के लिए विवाहित दम्पति त्याग और बलिदान करने को तत्पर रहे। इस प्रकार विवाह एक सामाजिक यज्ञ सिद्ध होता है। यौन वासनाओं की परितृप्ति मात्र का यह साधन नहीं, अपितु जीवन के सर्वतोमुखी विकास की कुञ्जी है। योग्यतम स्त्री-पुरुष के स्नेह-सम्बन्ध का प्रतीक है। विवाह-बन्धन से विवाहित युग्म समान आदर्शों की ओर अग्रसर होते हैं। इसमें पाणिग्रहण की जो क्रिया है, वह पति-पत्नी के बीच शारीरिक सम्बन्ध की प्रतीक है। पति पत्नी का दाहिना हाथ इस मंत्र के साथ पकड़ता है—"मैं आजीवन तेरा हाथ

---

१. याज्ञवल्क्यस्मृति १/८४।

२. अधुक्षत पिप्युषीमिषमूर्जं सप्तपदी मरिः। सूर्यस्त सप्त रश्मिभिः मैत्री—ऋ० ८/७२/१६।

३. अथर्व० ५/११/९-१०।

४. किष्किन्धाकाण्ड, ८/४।

५. वनपर्व, २६०/३५/, २९७/२३।

६. अष्टाध्यायी, ५/२/२२।

सौभाग्य के लिए ग्रहण करता हूँ" ।[१] अश्मारोहण की क्रिया स्थिरता और शक्ति का प्रतीक है । वर वधू को प्रस्तर खण्ड पर इन शब्दों के साथ आरूढ़ करता है—"इस प्रस्तर (अश्मा) पर आरूढ़ हो और तू इसी के समान स्थिर हो" ।[२]

सप्तपदी के मन्त्र में पति पत्नी से जो कहता है—"सखे ! सात पगों के साथ तू मुझसे संयुक्त हो और मेरी अनुव्रता बनो ।" उससे उसमें दाम्पत्य-प्रेम को सफल बनाने की कामना निहित है । लाजाहोम के द्वारा वधू अन्न की आहुति अग्नि में देकर पति के ऐश्वर्य की कामना करती है ।[३] राष्ट्रभृत यज्ञ में वर देवों और पितरों से प्रार्थना करता है—"अग्नि देव मेरी रक्षा करें, इन्द्र और यम मेरी रक्षा करें ।[४] इसी क्रिया में राष्ट्र के मंगल की भी कामना निहित है । इस प्रकार विवाह-संस्कार की क्रियाओं से दम्पति को योग्य मार्ग दर्शन मिलता है, न कि काम भोग की छूट । अतएव यह जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए धार्मिक विधियों के माध्यम से प्रतीकात्मक संस्कार है । पति के इस नवीन गृह में पत्नी तो अपना जीवन-दीप जलाकर आलोकित करने ही पदार्पण करती है । उसके जीवन का लक्ष्य होता है योग देना, ग्रहण करना, धारण करना, दायित्वों का वहन करना और ऊपर उठना-उठाना । इसमें एक महान् आत्मसमर्पण की भावना है, जो भारतीय संस्कृति की अपनी विशेषता है ।

अध्यक्ष, हिन्दी एव हरियाणवी संस्कृति विभाग
हरियाणा कृषि विश्वविद्यालय, हिसार

---

१. आश्वलायन गृह्यसूत्र १/७/३ ।
२. आरोहेममश्मानमश्मेवत्वं स्थिरा भव-सांखयायन गृह्यसूत्र १/८/१९ ।
३. पारस्करगृह्यसूत्र १/६/१ ।
४. वही, १/४/१७ ।

THE JOURNAL
OF
THE BIHAR RESEARCH SOCIETY

Vols. LXXI, LXXII & LXXIII   January-December 1985-87   Pts. I-IV

Chief Editor

UPENDRA THAKUR



PUBLISHED BY

THE BIHAR RESEARCH SOCIETY

PATNA